संपादकीय

बेग़मपुरा
अविद्या के विरुद्ध संघर्ष का सफर

शीलबोधि

'बेग़म' शब्द नहीं है, एक यात्रा है। इस अर्थ में नहीं कि यह शब्द अरबी से उद्भूत होकर फारसी के मार्फत हिंदी और उर्दू में समाहित हो गया बल्कि इस अर्थ में कि सारभाव में एक विचार ने कई सारे शब्दों पर सवार होकर चार्वाक के सुखवाद से लेकर संतों के बेग़मपुरा तक यात्रा की है। इस यात्रा के मील के कुछ पत्थर समय की गर्त में ढक गए (जैसे अजीत केसकंबल, संजय वेलट्ठिपुत्र, मक्खली गोसाल आदि) तो कुछ अभी भी वैसे ही साफ-साफ दिखाई पड़ रहे हैं, जैसे वे पहले थे, जैसे समण बुद्ध और समण महावीर। यह अलग बात हो सकती है कि हमारे नजर के चश्मों पर मिथ्या अवधारणाओं के आवरणों कीं धूल-सरीखी कई परतें जमा हो गई है। यह हम भारतीयों को सोचना है कि अविद्यापूर्ण अवधारणाओं के चुंगल में दबोचकर रखी गई अपनी नजर की मुक्ति का संग्राम हम कैसे लड़ेंगें।

भारतीय चिंतन में अविद्या से ही मिथ्या दृष्टि अथवा मिथ्या दर्शन विकसित होता है। दुख यानी ग़म की परिस्थिति उत्पन्न होने के पीछे जो अनेक कारण हैं उनमें अविद्या एक प्रमुख कारण है।

दार्शनिक परंपराओं का आमतौर यह दावा होता है कि वे विद्या देने वाले विद्यालय है, यानी स्कूल ऑव थॉट हैं, उनमें से एक भी यह दावा नहीं करते थे या करते हैं कि वे अविद्या देने वाले अविद्यालय हैं।

आजकल भारत में मूलभूत समानताओं के साथ कुछ प्रमुख दार्शनिक स्कूल मौजूद हैं। **वैदिक दार्शनिक स्कूल**–जिसमें ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, और नरक; **ईसाई दार्शनिक स्कूल**–जिसमें गौड, सौल(soul), हेवेन (heaven) और हेल (hell); वहीं **इस्लामिक दार्शनिक स्कूल** में अल्लाह, रूह, जन्नत और जहन्नुम है। ये तीनों दार्शनिक स्कूल मध्य एशिया से भारत में प्रवेश करते हैं और अपने स्वरूप के निर्धारण में एक जैसी ढ़ांचागत समानता रखते हैं, बेशक संरचनात्मक समरूपता नहीं है। एक जमाने में कबीर इन दर्शनों के लिए कह चुके हैं कि 'हिंदू तुर्क अंतर न कोय'। ये तीनों दर्शन एक जैसी अवधारणाओं को पोषित करने वाले है। ये सभी दार्शनिक-स्कूल किताब या किताबों के समूह पर इतना ज्यादा निर्भर हैं कि तार्किक बुद्धि के लिए यहां कोई

स्थान उपलब्ध नहीं है। इन्हें हम ईश्वरवादी दार्शनिक-स्कूल कहते हैं। सिंधु घाटी सभ्यता की विशेषताओं से इनकी दार्शनिक-परंपरा के बिंब, प्रतीक, आदर्श और अवधारणाएं मेल नहीं खाती हैं।

दूसरी तरफ लोकायत, सांख्य, श्रमण, सिद्ध और संतों के दार्शनिक स्कूल के बिंब, प्रतीक, आदर्श और अवधारणाएं सिंधु घाटी सभ्यता से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाते हैं। न केवल वैचारिक कुशलता बल्कि स्थापत्य कौशल में भी ढांचागत व संरचनात्मक अभिन्नता दिखाई पड़ती हैं। सिंधु घाटी में जिस पोखर को स्नानागार कहकर पुकारा गया है, वैसा तो बोधगया में भी बौद्ध टेम्पल के पास है, सांची में स्तूप के पास है, स्वर्ण मंदिर के पास है, कबीर मंदिर के पास है। ऐसी समरूपता को साबित करने वाली अनेक चीजें है, जिनका जिक्र यहां विषयांतर के कारण नहीं किया जा सकता है। वैचारिक रूप से इस परंपरा में न ईश्वर का विचार है, न स्वर्ग और नरक का, क्योंकि मूलभारतीय दार्शनिक अनुशासन में इन्हें मिथ्या (अवास्तविक) माना गया है। शब्द और शास्त्र के बजाय यहां प्रकृति और आत्मानुभव को ही प्रमाण और आधार माना जाता है।

भारतीय दर्शन में विद्या और अविद्या को लेकर काफी विवाद हुआ है। **चार्वाक दर्शन**–यहां प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना विद्या है, जो पांच ज्ञानेन्द्रियों को अनुभूत नहीं होता, वह अप्रमाणित है और अविद्या है। अनुमान का ज्ञान क्योंकि संदिग्ध है। अनुमान से रस्सी को भी साँप समझा जा सकता है, जोकि अविद्या है। **सांख्य दर्शन**–सांख्य में जीव को 'प्रकृति' और 'पुरुष' में बांटकर द्वैतवाद दिया है। जीव के भौतिक अस्तित्व को पुरुष कहते हैं, और भौतिक अस्तित्व में होने वाली क्रिया को प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के होने से पुरुष है और पुरुष के होने से प्रकृति है, लेकिन दोनों परस्पर आश्रित होने के बावजूद अलग-अलग चीज हैं, यही विद्या है। प्रकृति और पुरुष के अंतर्संबंध को समझने के लिए कार्यकारण सिद्धांत है। जो कहता है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता है। **उपनिषदों** में भी विद्या पर बात आई है–'ईशावास्य' उपनिषद में विद्या और अविद्या दोनों को जानने पर जोर दिया है, लेकिन 'कठोपनिषद' में दो तरह की विद्या की बात की गई है, एक पराविद्या और दूसरी अपराविद्या। परा का अर्थ है, पराई विद्या और अपरा का अर्थ अपराई विद्या। अपराविद्या में वैदिक साहित्य को रखा गया है तथा पराविद्या में आत्मानुभव की विद्या को रखा गया है। **जैन दर्शन** के अनुसार–जीव में अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत चरित्र तथा अनंत वीर्य होता है परंतु कर्म पुद्गलों के कारण जीव की शक्ति कम हो जाती है। ऐसी हालत में हमें न केवल कम ज्ञान मिलता है बल्कि अक्सर गलत ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) होता है। मिथ्या दर्शन के कारण जीव वास्तविकता से भटक जाता है। मिथ्या दर्शन अकेला बंधन कारक नहीं है, उसके साथी मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चरित्र भी हैं, इसलिए केवल सम्यक दर्शन से काम चलेगा नहीं, सम्यक ज्ञान और सम्यक चरित्र की भी आवश्यकता होगी। **बौद्ध दर्शन** के अनुसार–अविद्या ही सब दुखों की जड़ है। इस लोक में जितने भी दुख हैं, सब अविद्यामूलक हैं। चार आर्य सत्यों का ज्ञान न होना, अविद्या है, इसी से दुख उत्पन्न होता है। हमारी दृष्टि अविद्या पर नहीं बल्कि विद्या (वास्तविकता) पर आधारित होनी चाहिए। जैसी हमारी दृष्टि होगी, वैसा ही हमारा ज्ञान होगा। **वैशेषिक दर्शन** कहता है कि अविद्या का स्वरूप मिथ्या ज्ञान का है। मिथ्या ज्ञान में न केवल असलियत को छिपाया जाता है बल्कि झूठ को प्रदर्शित किया जाता है। इसी कारण मिथ्या ज्ञान और मिथ्या विश्वास निर्माण होते हैं, मिथ्या ज्ञान के कारण विविध दोष निर्माण होते हैं, उनके कारण प्रवृत्ति, फिर उसके कारण जन्म और उसके कारण दुख की निर्मिति होती है। शंकराचार्य के **अद्वैत वेदांत** दर्शन में कहा गया है कि ब्रह्म छोटे से छोटा है और बड़े से बड़ा है। मैं ब्रह्मा हूं (अहम् ब्रह्मास्मि) भी सही है, तू वह (ब्रह्म) है (तत्वम् असि) भी सही है, क्योंकि यह सब कुछ ब्रह्म ही हैं। आत्म और ब्रह्म एक ही हैं। उसे पाने के लिए हमें कहीं जाने की जरूरत नहीं है, हर व्यक्ति, उसे अपने अंदर ही पा सकते हैं। अपना यह नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप भूल जाना या नहीं देख पाना ही शंकराचार्य की दृष्टि में अविद्या है। अविद्या और माया दोनों शब्दों का प्रयोग शंकराचार्य करते हैं, दोनों का अर्थ लगभग समान है।

प्राचीन भारत में बुद्ध ने अविद्या को दुख का कारण बताया, मध्यकाल में रैदास ने कहा कि जो व्यक्ति तुम्हें अविद्या देता है, वह अपने हितों को साध रहा होता है, न कि तुम्हारे (अविद्या हित किन्हा, मैंने नाम न किसी का लीना)। आधुनिक समय में जोतिबा फुले ने अविद्या का पूरा मैकेनिज्म खड़ा करके बताया कि 'विद्या बिना मति गई, मति बिना नीति गई, नीति बिना गति गई, गति बिना वित्त गया,

वित्त बिना शूद्र गये, इतने अनर्थ एक अविद्या ने किये।'

विद्या और अविद्या के नाम पर ढेरों मत-मान्यताएं दुनियां में चल रही हैं। मत और मान्यताओं से मनुष्य का मानस निर्मित होता है। निर्मित मानस की मदद से सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सरोकारों में अधिकारों व कर्त्तव्यों की व्यवस्था को नागरिकों पर लागू किया जाता है।

विद्या आधारित व्यवस्था में नागरिकों की स्वाधीनता दिखाई देगी और अविद्या आधारित व्यवस्था में नागरिकों की पराधीनता दिखाई देगी। ईश्वरवादी स्कूलों ने जिन मत-मान्यताओं को सर्जित किया है, उनसे स्वाधीनता की नहीं बल्कि पराधीनता की व्यवस्था खड़ी होती है, क्योंकि आस्तिकता का अर्थ ही पराधीनता है, आस्तिक होना ईश्वरवादी व्यवस्था का आदर्श है। वहीं दूसरी तरफ स्वाधीनता के दर्शन में ईश्वर नहीं है यानी ईश्वरवाद से मुक्ति। आस्तिकता यदि ईश्वर पर नहीं होगी तो स्वयं पर होगी, आप स्वयं के आस्तिक होंगे यानी स्वास्तिक होंगे। स्वयं का अर्थ आत्म होता है और आस्तिक का मतलब निर्भर होता है यानी 'स्वास्तिक' और 'आत्मनिर्भर' दोनों शब्द समानार्थी हैं।

स्वाधीनता के लिए तीन तरह की सत्ताओं में भागीदारी होना जरूरी है। डॉ. आंबेडकर द्वारा रेखांकित की गई इन तीन सत्ताओं पर हम भारत के लोगों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। ये तीन सत्ताएं हैं–पहली 'ज्ञान सत्ता', दूसरी 'राज सत्ता' और तीसरी 'धर्म सत्ता'। देखना यह है कि इन तीनों सत्ताओं पर एक विशेष-वर्ग का कब्जा है, या फिर हम भारत के लोग अपनी इच्छा से इन सत्ताओं में भागीदारी कर सकते हैं। केवल वैदिक नहीं बल्कि भारत में इस्लाम और ईसाई धार्मिक सत्ता में भी इसकी पड़ताल करनी जरूरी है। इस्लाम और ईसाइयत में भी हम भारत के लोग शामिल हैं या नहीं। यह देखा जाना जरूरी है कि हम भारत के लोगों में ही, कोई ऐसा विशिष्ट वर्ग तो, नहीं बन गया है; जो धर्म-सत्ता में नीति का निर्धारण और उसका प्रबंधन का काम करता है, शेष-हम भारत के लोगों को, नीति निर्धारक पदों तक, पहुंचने नहीं दिया जाता है? यह वास्तविकता है कि भारत में ईश्वरवादी धर्म सत्ताओं पर कब्जा विशिष्ट-वर्ग ही कर रहे हैं, जो उच्च जातीय बोध की वजह से प्रतिनिधित्व के लोकतांत्रिक मूल्य को हानि पहुंचा रहे हैं।

महिलाएं को भी धर्म सत्ता में भागीदारी से पाबंद कर दिया जाता है। इसलिए भी सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं के लिए समान अवसर नहीं हैं। भारतीय मूल के गैर ईश्वरवादी परंपरा में भी बौद्ध धम्म को छोड़कर महिला को धर्मसत्ता में भागीदारी पूर्ण रूप में नहीं, केवल आंशिक है। यह निर्विवाद है कि धार्मिक व्यवस्था के ऊपर संवैधानिक व्यवस्था है। यदि हमें स्वतंत्रता और समानता के बंधुत्वभाव का सामाजिक परिवेश चाहिए तो संविधान की प्रस्तावना हमारे दैनिक जीवन के लिए रोज का लक्ष्य होनी चाहिए।

आजादी के बाद भारतीय संविधान ने धार्मिक व्यवस्था की अमानवीय चक्रबंदी को कुछ हद तक तोड़ा है। लेकिन ये उन साहसिक भारत के लोगों के कारण हो सका है, जिन्होंने संवैधानिक सत्ता का सहारा लेकर धार्मिक अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाई और संघर्ष किया। भारतीय संविधान ने सभी को स्कूल में प्रवेश देकर विद्या दी और ज्ञान सत्ता में पराधीनता को कम किया, वही चुनाव लड़ने का अधिकार देकर राज सत्ता में भी पराधीनता को कम किया।

यह सवाल अभी छोड़ा नहीं जा सकता है कि क्या धर्म सत्ता में वैसी ही भागीदारी मिली जैसी ज्ञान-सत्ता और राज-सत्ता में मिली? इसका जवाब है–नहीं! सामाजिक संरचना पर धर्म सत्ता का नियंत्रण अधिक होता है, धर्म सत्ता में भागीदारी का सवाल ज्यादा प्रबल है। सवाल किसी भी मंच से उत्पन्न हुए हो, हमने उनका असर देखा है, वैदिक धर्म सत्ता में महिला कथावाचक नजर आई हैं, बेशक अभी पुरुष पक्ष के मुद्दों को पुख्ता करती ही नजर आती है, लेकिन अपनी स्थिति को जब वे पुरुष आश्रितता से मुक्त कर लेंगी तो धर्म सत्ता को अपने मुद्दे दे पाएंगी। ईसाइयों में नन एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पाई क्योंकि वे अपने मुद्दे धर्म सत्ता को नहीं दे पाई, ऐसा क्यों हुआ, क्योंकि धर्म सत्ता के फैसलों में उसकी निर्णायक भूमिका नहीं रही। इस्लाम की धार्मिक सत्ता में शेख व सैयद के अलावा शेष-लोगों की निर्णायक भूमिका नहीं बन पाई है। ऐसे में महिलाओं को निर्णायक भूमिका देने में बहुत देरी लगेगी।

धर्म सत्ता से वंचित वर्ग को सवाल करने चाहिए, इससे प्रतिनिधित्व की जरूरत रेखांकित होगी।

ईश्वर की अवधारणा और किताबी तहरीरें सुनाई जाती है, उनके मूल्यांकन को अपराध के तौर पर प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि मूल्यांकन विद्या (ज्ञान) उत्पन्न करता है, मूल्यांकन न करने से

अविद्या (अज्ञान) बढ़ती है, जिससे मिथ्या दृष्टि मनुष्य की बौद्धिक क्षमता को खत्म कर देती है। वास्तविकता को देखने की सम्यक दृष्टि का अभाव, न केवल, जीवन में दुख को उत्पन्न करता है, बल्कि पराधीनता को बढ़ाता है, मजबूत करता है।

एक मिथ्या नजरिये के समक्ष दूसरा मिथ्या नजरिया परोस देने से समस्या का समाधान नहीं होता बल्कि समस्या और ज्यादा उलझ जाती है। उत्तर-आधुनिक दौर में विमर्श ने अस्मिता के सवाल को मजबूती से खड़ा तो किया लेकिन समाधान कुछ भी नहीं हो पाया। ब्राह्मणवादी साहित्य ने 'शूद्र' के रूप में 'इंसान' को जैसी अवास्तविक पहचान दी है, अलग-अलग विमर्शों में वैसी ही, 'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' की पहचान (अस्मिता) दी जा रही हैं क्या ये वास्तविक अस्मिताएं (पहचान) हैं? मेरे विचार से परिपक्वता की कोई अंतिम सीढ़ी नहीं है। इन सभी विमर्शों ने जिस परिपक्वता से अपने शोषण को रेखांकित करने के लिए 'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' की अवधारणा का उपयोग किया है, वक्त के साथ अब उससे ऊंचे परिपक्वता के पायदान पर खड़ा होकर बात करने की जरूरत है। अलग-अलग विमर्श इंसानी- हकूक को मांग रहे हैं, लेकिन इंसान को 'इंसान' की पहचान से अलग करके इंसानी हकूक मांग रहे हैं। वास्तविक चीज के लिए वास्तविक मांग की जा सकती है। विमर्श अपनी प्रौढ़ता में, अवास्तविक चीज के लिए वास्तविक मांग कैसे करेगा? यदि ऐसा हैं, तो यह एक ऐसा खेल है, जिसमें परिणाम हासिल करना लक्ष्य नहीं है, बस मनोरंजन किया जा रहा है। मिथ्या दृष्टि में सम्यक व्यायाम (समुचित प्रयास) नहीं हो सकता। सम्यक व्यायाम के लिए सम्यक दृष्टि चाहिए। सम्यक दृष्टि से विद्या उत्पन्न होती है। जिसकी प्राथमिक पहचान इंसान है और प्राथमिक पहचान से आगे अलग-अलग परि-स्थितियों में, केवल व्यवहार के लिए, उसे 'महिला', 'बेटी', 'बहन' और 'माँ' के रूप में पहचाना जा सकता है; अध्यापिका या अधिकारी जैसे पेशों की पहचान में पहचाना जा सकता है।

'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' मानव है, उसकी अस्मिता मानव ही है, कुछ और नहीं, यदि उसे अविद्या के कारण मिथ्या दृष्टि से पहचाना जाता है, तभी इन सबको मानवीय अधिकारों से वंचित किया जा सकता है। इसी विधि से एक इंसान को इंसानी हकूक से वंचित किया गया है। अब अगर उनके लिए वास्तविक अधिकारों को मांगा जा रहा है तो वास्तविक पहचान में ही उसे पहचानने की जरूरत होगी। जो खेल चल रहा है उसमें मनोरंजन तो खूब हो रहा है, परिणाम हासिल नहीं हो रहे हैं। खैर! हम अपनी बात को यहां पुनः दोहरा देते हैं कि वास्तविक चीजों के लिए वास्तविक पहचान को सामने रखने की जरूरत है। विमर्श में 'वास्तविक पहचान' से बेशक ध्यान चूक जाए लेकिन विमर्श की प्रौढ़ता से उत्पन्न दर्शन में चूक के लिए कोई स्थान नहीं होता है। दर्शन बहुत पुख्ता तौर पर अपनी बातों को रखता है, हममें से जो भी 'दलित', 'महिला', 'आदिवासी' व 'ओबीसी' विमर्श चला रहे हैं, उन्हें दार्शनिक समझ में चीजों को पहचानना और रेखांकित करना पड़ेंगा, तभी हम ग़मगीन परिस्थिति को घटना बनने से रोक पाएंगे।

हमारे जीवन में धर्म-दर्शन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धर्म हमारी निजी जिंदगी और सामाजिक जिंदगी का नियंता है। हमारी जिंदगी के क्रिया-कलापों को अधिकार और कर्त्तव्यों के रूप में विभिन्न लोगों के बीच अलग-अलग मात्रा में बांट देता है। दर्शन यदि अविद्या पर आधारित है तो अधिकार और कर्त्तव्यों के वितरण में असमानता और अन्याय आ ही जाएगा। असमानता और अन्याय पर आधारित समाज में मौजूद लोगों का जीवन दुखमय होगा, ग़मगीन होगा।

जहां दर्शन मिथ्या दृष्टि के स्थान पर सम्यक दृष्टि को महत्त्व देता है, अविद्या से मुक्त समाज होगा, जिसमें अधिकार और कर्त्तव्यों का बंटवारा न्यायपूर्ण होगा। भारत के संविधान की उद्देशिका का उद्देश्य ही है—बेग़म समाज को अस्तित्व में लाना, बेग़मपुरा व बेग़म देश को बसाना।

ईश्वरवादी दर्शनों ने लोगों को जीवन का लक्ष्य ईश्वर और मोक्ष की प्राप्ति रखा है। वहीं मूलभारतीय दर्शनों में जैसे लोकायत, सांख्य, बौद्ध, सिद्ध और संतों ने दुखमुक्त जीवन को पाना जीवन लक्ष्य रखा है। दुख से मुक्ति का लक्ष्य सभी मूलभारतीय दर्शनों के केंद्र में सदा रहा है, लेकिन बेग़मपुरा या बेग़मदेश को पाने के लिए अविद्या के विरुद्ध विद्या का संघर्ष प्रचीनकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल से होता हुआ उत्तर आधुनिक काल में हम तक पहुंचा है। अब हमें देखना है कि हम इस लड़ाई को कैसे लड़ते हैं।